भारोपीय भाषा परिवार, हिंदी और उत्तर-औपनिवेशिकता

उदय शंकर

1

समीक्ष्य कृति *हिंदी की जातीय संस्कृति और औपनिवेशिकता* के शीर्षक से ही स्पष्ट है कि इसे उत्तर-आधुनिक, सबाल्टर्न और उत्तर-औपनिवेशिक विमर्श के 'सैद्धांतिक निष्कर्षों' के प्रभाव में लिखा गया है। इसका इशारा करते हुए लेखक ने अपनी योजना को इंगित किया है, 'यूरोकेंद्रीयता से बाहर निकलने की जद्दोजहद में उत्तर-उपनिवेशवाद का जन्म हुआ। उत्तर-उपनिवेशवाद ने ज्ञानमीमांसा के क्षेत्र में वि-औपनिवेशीकरण की प्रक्रिया को आगे बढ़ाया।'[1]

उत्तर-औपनिवेशिक विमर्शकार रणजीत गुहा भाषाशास्त्र, राजनीतिक-अर्थशास्त्र, यात्रा-संस्मरण, नृविज्ञान, विज्ञान, सामाजिकी, मानविकी, कला जैसे अध्ययन-क्षेत्रों में उपनिवेशवाद की मानसिकता के प्रभाव को रेखांकित करते हुए दर्शन को अलग से उभारते हैं। दर्शन में विवरणों / घटनाओं के बरअक्स विचार की छूट है। इसीलिए उनके परीक्षण के केंद्र में आते हैं— हिगेल। उनके आते ही

[1] डॉ. राजकुमार की सद्य:प्रकाशित आलोचना-विचार की पुस्तक एक पाठक के रूप में पढ़ते हुए चौंकाती है. दिनों बाद ऐसी पुस्तक देखने को मिली है जिसमें अध्ययन का दायरा बहुत बड़ा, तथा इसकी 'प्रस्तावना' पश्चिमी, ख़ासकर अमेरिकी एकेडेमिया में 'अति-प्रचारित' है और 'विचारधारा ख़ास लोगों' के लिए विवादित भी है. यह लेख इस किताब के साथ एक यात्रा है.
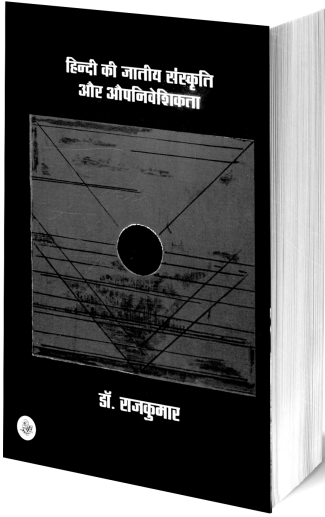
हिंदी की जातीय संस्कृति और औपनिवेशिकता
डॉ. राजकुमार,
(2018), रज़ा फ़ाउंडेशन और राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली, पृष्ठ : 218, मूल्य : रु. 699 (सजिल्द)

दर्शन की यह विशेषता, विवरणों के बरअक्स विचारने की, तर्क द्वारा उपनिवेशवाद की विचारधाराओं और गतिविधियों की लीपापोती का यंत्र बन जाती है। रणजीत गुहा ने हिगेल द्वारा प्रतिपादित विश्व-इतिहास की धारणा को प्रस्तुत किया है।[2]

1986 में प्रकाशित अपनी पुस्तक *मार्क्स और पिछड़े हुए समाज* में हिंदी के आलोचक और विमर्शकार रामविलास शर्मा ने लिखा है, 'इतिहास-दर्शन (फ़िलॉसफ़ी ऑफ़ हिस्ट्री) की भूमिका में हिगेल ने तीन तरह के इतिहास-लेखन की चर्चा की है। मौलिक, तथ्यपरक इतिहास घटनाओं का विवरण प्रस्तुत करता है। चिंतन-प्रधान इतिहास तथ्यों और घटनाओं की व्याख्या करता है। दार्शनिक इतिहास यह सिद्ध करता है कि मानव इतिहास निरपेक्ष विवेक का प्रतिफलन है। हिगेल अपना संबंध इस तीसरी तरह के इतिहास से जोड़ते हैं। उनके लिए विवेक (रीज़न) निरपेक्ष और अनंत ज्ञान है, असीम शक्ति है। मानव-इतिहास द्वारा ईश्वर स्वयं को व्यक्त करता है; वह गुप्त रहस्य न बना रहे, इसीलिए इतिहास द्वारा वह मनुष्य को यह समझने का अवसर देता है कि वह क्या है। वस्तु (मैटर) और चेतना (स्पिरिट) दो भिन्न प्रपंच हैं। वस्तु का सारतत्त्व गुरुत्वाकर्षण है और चेतना का सारतत्त्व स्वतंत्रता है। दर्शनशास्त्र मनुष्य को स्वतंत्रता की ओर ले जाता है। विश्व-इतिहास स्वतंत्रता की पहचान में प्रगति के अलावा और कुछ नहीं है।'[3]

हिगेल की विचार-सरणी में उपलब्ध 'भाववादी भंगिमा' की कार्ल मार्क्स द्वारा प्रस्तुत आलोचनाओं के कुछ टुकड़ों को समेटते हुए रणजीत गुहा अपना स्फटिक विचार स्पष्ट करते हैं कि हिगेल के लिए इतिहास, इतिहास में विवेक है। 'इतिहास के प्रति यह नज़रिया विश्व और उसकी ऐतिहासिकता को निर्मित करने वाले अधिकांश तत्त्वों से किनाराकशी है। यह एक तरह का पृथक्कीकरण है। जहाँ, छँटाई और संरक्षण की संगत अनिवार्य है। यह एक तरह का कथोपकथन है।'[4]

ऊपर-ऊपर देखने से लगता है कि यह विश्व इतिहास-दर्शन के इतने बड़े अग्रदूत (हिगेल) का उत्तर-उपनिवेशवादी विमर्श के अग्रदूत (रणजीत गुहा) द्वारा प्रस्तुत सूक्ष्म दार्शनिक निचोड़ है। जबकि सच्चाई यह है कि गुहा द्वारा हिगेल की विवेच्य पुस्तक *फ़िलॉसफ़ी ऑफ़ हिस्ट्री* में ही भौगोलिक अन्यता के विवरण प्रच्छन्न रूप से मौजूद हैं। इन्हीं प्रच्छन्न विवरणों से डॉ. रामविलास शर्मा की पुस्तक *मार्क्स और पिछड़े हुए समाज* के पचासों पन्ने भर जाते हैं। इनमें अफ़्रीकी मूल और अफ़्रीकी मूल के अमेरिकन, चीनी, भारतीय, अरबी-पारसी लोगों के बारे में 'नस्ली' और 'पूर्वग्रहपूर्ण' टिप्पणियाँ भरी पड़ी हैं।[5] इस तरह रामविलास शर्मा निष्कर्ष निकालते हैं कि 'हिगेल का इतिहास-दर्शन यूरोप-केंद्रित

---

[2] रणजीत गुहा (2002) : 3-5.
[3] रामविलास शर्मा (1986) : 249.
[4] रणजीत गुहा (2002) : 2.
[5] उदाहरण के लिए, 'नीग्रो लोगों में नैतिक भावना कमज़ोर होती है ... माता-पिता बच्चों को बेच देते हैं. इसी तरह बच्चे माता-पिता को बेच देते हैं ... मिसाल के लिए लंदन में एक नीग्रो ने कहा कि वह एकदम ग़रीब हो गया है क्योंकि उसने सारे संबंधियों को बेच दिया है. चीन का सम्राट कुलपति के समान है और उसकी प्रजा बच्चों की तरह है ... वहाँ इतिहास और विज्ञान दोनों में आत्मगत चेतना का अभाव है ... अच्छे-भले बैठे हैं (मंग़ोल) मन में तरंग उठी, विनाशकारी अभियानों पर चल पड़े ... अरब देश में रेगिस्तान है, वहाँ कट्टरता का

है, नस्लपंथी, गोरी जातियों ख़ासकर जर्मन श्रेष्ठता का क़ायल है, भौगोलिक नियतिवाद का समर्थक है।'[6] उत्तर-औपनिवेशिक विमर्श के अग्रदूत गुहा भी इसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं।[7]

विश्व में, भारत सहित, इतिहास-लेखन और ज्ञान की सक्रिय धाराओं और प्रणालियों पर हिगेलियन दृष्टि हावी रही है। इसीलिए, उत्तर-औपनिवेशिक अध्येताओं के लिए हिगेल और हिगेलियन-दृष्टि पर कुठाराघात अपने देश और अपनी जातीय ज्ञान-परम्परा को पाना या उसके नज़दीक जाना प्रतीत होता है।

2

हिंदी की जातीय संस्कृति से संबंधित एक बहस जो उभर कर सामने आती है वह है रामविलास शर्मा की *परम्परा का मूल्यांकन* वाली स्थापनाएँ।[8] और *परम्परा के मूल्यांकन* के पीछे जो दृष्टि काम कर रही थी, वह इस प्रकार है, 'हिंदी जाति की संस्कृति भारतीय संस्कृति का ही एक अंग है ... जब वेद-मंत्र रचे गये, तब उस युग के आसपास सिंधु घाटी की महान् सभ्यता विकसित हुई थी। संस्कृत के विशाल वांग्मय के एक छोर पर तक्षशिला में पाणिनि हैं तो दूसरे छोर पर केरल में शंकराचार्य हैं। आधुनिक भाषाओं में लगभग चौथी शताब्दी से अब तक तमिल साहित्य की अटूट गौरवशाली परम्परा है ...।'[9] हालाँकि एक अन्य पुस्तक में वे यह भी कह चुके हैं, 'राष्ट्रीय एकता की स्थापना के लिए यह आवश्यक नहीं है कि हम कल्पना करें कि वेद मंत्र कृष्णा और गोदावरी के किनारे भी रचे गये थे अथवा एक पाणिनि केरल में थे और एक शंकराचार्य तक्षशिला में।'[10] रामविलास शर्मा पूर्व-चर्चाओं और भविष्य की अवश्यम्भावी आलोचनाओं के प्रति सचेत हैं। 'भाषा संस्कृति के निर्माण में सहायक

> रामविलास शर्मा का मानना है कि भाषाओं का जन्म मनुष्यों के उद्भव की धार्मिक कहानी की तरह नहीं होता है। जैसे आदम और हव्वा की कहानी झूठी है, वैसे ही 'प्रोटो-इंडोयूरोपियन' की कहानी भी झूठी है। उनके अनुसार भाषा बनने के पहले संस्कृत भी कभी बोली रही होगी। ... किशोरी दास वाजपेयी का *हिंदी शब्दानुशासन* एक आदर्श की तरह उनके साथ होता है, जहाँ संस्कृत और हिंदी के बीच समानता की जगह भिन्नताओं का आँकड़ा खड़ा किया गया है। लब्बेलुबाब यह कि संस्कृत-प्राकृत-अपभ्रंश-देशभाषा-हिंदी की यह सरणी उन्हें नहीं रुचती है।

होना स्वाभाविक है. ... जहाँ मैदानों में सभ्यता का विकास हुआ, वहाँ लोग अपने घरौंदों में बंद हैं ... भारत की स्त्रियों में एक विशेष प्रकार का सौंदर्य है. इनके चेहरे पर पारदर्शी त्वचा है. उस पर हल्का गुलाबीपन है. यह सहज स्वास्थ्य की लालिमा नहीं है, यह ऐसी लालिमा है जिसका सहज संस्कार किया गया है, मानो भीतर से उसमें प्राण फूँक दिये हैं ...यह ऐसी शिथिलता का सौंदर्य है कि जो कुछ भी जड़, कठोर, अंतर्विरोधमय है, वह अंतर्ध्यान हो जाता है, और हमें केवल भावप्रवण अवस्था में आत्मा दिखाई देती है. किंतु इस आत्मा में स्वतंत्र, आत्मनिर्भर चेतना की मृत्यु का आभास मिलता है'. रामविलास शर्मा (1986) : 254 : 259.

[6] रामविलास शर्मा (1986) : 6.

[7] ... जैसी पहले थी, वैसी ही रणनीति यहाँ दिख रही थी— युद्धों और शब्दों की संयुक्त कार्रवाई। इसमें तब्दीली केवल यह थी कि युद्ध अंग्रेज़ लड़ रहे थे और शब्द जर्मन थे. ज़ाहिरा तौर पर तीन सदियों का वह दौर बहुत लम्बा था. इस बीच तोपें हों या तोपवाही नौकाएँ हों, उनके आकार और संख्या में बढ़ोतरी हो चुकी थी. भले ही इस बात की अहमियत अधिक न हो, पर देखने वाली बात थी कि इनका इस्तेमाल करने वाले हाथ और दिमाग़ वही थे जिन्हें पश्चिम ने अपने सभी उदीयमान राष्ट्र-राज्यों का प्रभार थमाया था. शुरुआती दौर से ही दर्शन को इस घटनाक्रम के साथ समायोजित कर दिया गया था. ... लेकिन, कुल मिलाकर अपने समय की युरोपीय क्रांतियों के ज्वार-भाटे में डूब-उतरा रहे हिगेल के हिस्से में ही यह ज़िम्मेदारी आयी. राज्य के प्रश्न को केंद्रित करने वाले एक विस्तृत इतिहास-दर्शन की नींव उन्होंने ही डाली. उन्होंने दलील दी कि कोई राष्ट्र लिखना न जानने के कारण इतिहास से वंचित नहीं होता, बल्कि इसलिए कि राज्यत्व से वंचित होने के कारण उसके पास लिखने के लिए कुछ होता ही नहीं. देखें, रणजीत गुहा (2002) : 8-9.

[8] डॉ. रामविलास शर्मा की पुस्तक *परम्परा का मूल्यांकन* एक तरह से हिंदी की जातीय-संस्कृति या ज्ञान-परम्परा का एक एंपिरिकल ख़ाका प्रस्तुत करती है. जहाँ संस्कृत के भवभूति से लेकर उर्दू के फ़िराक़ गोरखपुरी तक को समेटा गया है. बीच में संत साहित्य, रीतिकालीन साहित्य, भारतेंदु हरिश्चंद्र, महावीर प्रसाद द्विवेदी, प्रेमचंद, निराला से लेकर आधुनिक साहित्य तक की चर्चा है.

[9] रामविलास शर्मा (1981) : 28.

[10] रामविलास शर्मा (1953) : 39.

शेल्डन पोलोक के अनुसार भाषा-साहित्य में संस्कृत के वर्चस्व के इलाक़े का देशभाषीकरण उसी समय होता है जब यूरोप में लैटिन के वर्चस्व के इलाक़े में हो रहा था। वे बताते हैं कि देशभाषीकरण की यह प्रक्रिया मध्य दक्कन, कन्नड़, तेलुगु, (नौवीं शताब्दी) से शुरू होती है और पंद्रहवीं शताब्दी में मध्यदेश (ग्वालियर) पहुँच जाती है। यूरोपीय लोगों के आने से पहले मातृभाषा संज्ञा-पद का नामोनिशान नहीं था। धीरे-से यह भी कह देते हैं कि 'देशभाषीकरण' में भक्ति आंदोलन, जैन और बौद्ध प्रभावों का कोई योगदान नहीं था। लेकिन ... शेल्डन पोलोक द्वारा 'देशभाषीकरण' का जो मानचित्र (काल-क्रम सहित) प्रस्तुत किया गया है, क्या वही मानचित्र और कालक्रम भक्ति-आंदोलन के अध्येताओं / इतिहासकारों द्वारा नहीं बताया गया है?

होती है, भाषा द्वारा हम अपनी संस्कृति व्यक्त करते हैं, भाषा स्वयं संस्कृति का महत्त्वपूर्ण अंग है।'[11] इसके बाद तत्क्षण वे स्पष्ट कर देते हैं, जो कि भाषा-संबंधी, संस्कृति-संबंधी अध्ययन की सभी समस्यायों की 'आसन्न जड़' होती है, '... संस्कृति केवल विचारधारा नहीं है। उसमें मनुष्य की भावधारा, संवेदनाएँ आदि भी सम्मिलित हैं।'[12]

3

हिंदी की जातीय संस्कृति और औपनिवेशिकता की शुरुआत 'भारोपीय भाषा परिवार' के प्रणेता विलियम जोंस की अवधारणा की आलोचना से होती है। इसमें आर्य-भाषा परिवार और द्रविड़ भाषा परिवार जैसे विभाजन को थॉमस आर. ट्राउटमान के हवाले से नस्लीय माना गया है।[13] इस तरह राजकुमार भाषा-विमर्श की बहस में उतर जाते हैं। 'तुलनात्मक भाषा-विज्ञान' से उनकी स्पष्ट असहमति है, 'इंडो-यूरोपियन भाषा परिवार की परिकल्पना को स्वीकार कर लेने पर हुआ यह कि भारत की कथित आर्य भाषाओं और यूरोप की भाषा के बीच तुलनात्मक अध्ययन के द्वारा सामान्य तत्त्वों को सामने लाने का प्रयास तो ख़ूब हुआ, लेकिन भारतीय भाषाओं के बीच समानता और निरंतरता को देखने और उनके निहितार्थों को समझने की कोशिश लम्बे समय तक कम ही की गयी।'[14]

सर विलियम जोंस की 'भारोपीय भाषा परिवार' (1786), फ्रांसिस व्हाईट एलिस की 'द्रविड़ भाषा परिवार' (1816), जो बहुत दिनों तक रॉबर्ट कॉडवेल की पुस्तक *द्रविड़ भाषा परिवार का तुलनात्मक व्याकरण* (1856) के प्रकाशनोपरांत हुए प्रचार के तले दब गया, और सर जॉन मार्शल की 'सिंधु घाटी की सभ्यता' (1924), यही तीन मूलभूत अवधारणाएँ हैं जिनसे भारतीय-भाषाओं का भाषा-विमर्श जूझता रहता है।[15]

विलियम जोंस की स्थापना के असर को सर्वपल्ली राधाकृष्णन के इस उद्धरण से समझा जा सकता है, 'भारतीय और यूरोपीय लोगों की नस्ली समानताओं के बारे में चाहे सच्चाई कुछ भी हो, पर इसमें

---

[11] रामविलास शर्मा (2002) : 406.

[12] रामविलास शर्मा (2002) : 407.

[13] मनुस्मृति, कामसूत्र आदि के हवाले से *काव्यमीमांसा* में राजशेखर कहते हैं, 'पूर्व और पश्चिम सागर एवं हिमालय तथा विंध्याचल के बीच का भाग आर्यावर्त कहा जाता है. इस आर्यावर्त में चार आश्रमों तथा चार वर्णों की व्यवस्था है. इन्हीं वर्णाश्रम के आधार पर यहाँ सदाचार प्रचलित है. प्राय: यहीं का व्यवहार कवियों का आदर्श होता है. माहिष्मती नगरी से आगे दक्षिणापथ है. उसमें महाराष्ट्र, माहिषक, अश्मक, सिंहल, चोड, दण्डक, पाण्डय, गांग, पल्लव, नासिक्य, कोंकण, कोल्लिगरी, वल्लर आदि जनपद हैं ... इन सब देशों के बीच मध्यदेश है. यह कवियों के व्यवहार में प्रचलित है, पर यह स्मरण रखना चाहिए कि यह केवल कवि-व्यवहार में ही प्रचलित नहीं, अपितु शास्त्रसमर्थित भी है. जैसा कि कहा है— हिमाचल और विंध्याचल के बीच विनाशन से पूर्व तथा प्रयाग से पश्चिम मध्यदेश कहा जाता है. दक्षिणात्यों की कृष्णता का उदाहरण— सूर्य का यह बिम्ब जो गलाए स्वर्ण-गोलक के समान है तथा जिसकी ज्योति मंद पड़ गयी है. धीरे-धीरे नीचे जा रहा है. उधर पूर्व दिशा में मुरल-देश (दक्षिण में अवस्थित देश) निवासिनी स्त्रियों के कपोल के भाँति मलिन तथा वृक्षों की छायाओं से पूँजीभूत-सा अंधकार का समूह प्रसृत हो रहा है'. राजशेखर (2013) : 198-199; 205.

[14] राजकुमार (2018) : 17-18.

[15] थॉमस आर. ट्राउटमैन (2006) : 74.

संदेह नहीं कि हिंद-यूरोपीय भाषाएँ एक समान स्रोत से निकली हैं और *मानसिक सजातीयता को प्रकाशित करती हैं* (ज़ोर मेरा)। संस्कृत अपनी शब्दावली और विभक्तिमय रूपों में ग्रीक और लैटिन भाषा से अद्भुत समानता रखती है। सर विलियम जोंस ने इसका समाधान इन सब भाषाओं का एक सामान स्रोत बताकर किया है। 1786 में एशियाटिक सोसाइटी ऑफ़ बंगाल के सम्मुख भाषण देते हुए उन्होंने कहा था : 'संस्कृत चाहे कितनी ही पुरानी हो, पर इसका गठन शानदार है। यह ग्रीक से अधिक निर्दोष और लैटिन से अधिक भरपूर और दोनों से कहीं अधिक परिष्कृत है। फिर भी उन दोनों के साथ इसकी धातुओं और व्याकरण के रूपों में इतनी समानता है कि वह आकस्मिक नहीं हो सकती। यह समानता वस्तुत: इतनी अधिक है कि इन भाषाओं की छानबीन करने वाला कोई भी भाषाशास्त्री यह माने बिना नहीं रह सकता कि ये सब एक समान स्रोत से निकली हैं, जिसका सम्भवत: अब अस्तित्व नहीं रहा है। इसी तरह का एक कारण, यद्यपि यह इतना ज़ोरदार नहीं है, यह मानने के लिए भी है कि गॉथिक और कैल्टिक दोनों भाषाएँ, एक विभिन्न वाग्भंगी से मिश्रित होते हुए भी उसी स्रोत से निकली हैं जिससे कि संस्कृत निकली है। प्राचीन फ़ारसी को भी उसी परिवार से जोड़ा जा सकता है।'[16]

भारोपीय भाषा परिवार के सहारे मानसिक सजातीयता के जिस प्रकाशन की बात राधाकृष्णन कर रहे हैं, उसे भाषा-विज्ञानी सुनीति कुमार चटर्जी (चाटुर्ज्या) कुछ इस प्रकार कह रहे थे, 'प्राचीन भारत की ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य जातियों को ही भारतवर्ष में 'आर्य' नाम से प्रवेश करने वाली 'विरोस' की सच्ची संतान कहा जा सकता है। ... नात्सी जर्मनों को तो यह विश्वास करना सिखाया जाता था कि वे ही 'विरोस' के विशुद्धतम वंशज हैं।'[17] सुनीति बाबू लिखते हैं :

> जब आर्य लोग भारत आये, तब देश जनशून्य न था। यहाँ भी कुछ ऐसी जातियाँ और जन बसे हुए थे जिनकी सभ्यता काफ़ी ऊँचे स्तर की थी। प्रागैतिहासिक काल में 'आर्यों के आक्रमण के सिद्धांत' के सर्वप्रथम प्रतिपादित होते ही, भारत के उच्चजातीय सुशिक्षित जनगण ने तुरंत ही उसे स्वीकार कर लिया। शिक्षित जनों से प्राय: उच्च वर्ण के हिंदुओं का ही बोध होता था, और आर्यों के आक्रमण वाले इस सिद्धांत से उनके स्वाभिमान को ठेस नहीं पहुँची। अब वे अपने को मध्य-एशिया से आये हुए उन गौर वर्ण और अत्यंत सुसंस्कृत आर्य विजेताओं की वास्तविक संतान के रूप में मान सकते थे, जिन्होंने जंगली काले अनार्यों के अंधकारमय देश को सभ्यता के प्रकाश से आलोकित किया था इसके अतिरिक्त वे 'आर्य' अर्थात् भारतीय यूरोपीय भाषाएँ बोलने वाले यूरोपीयों को चचेरे भाइयों के रूप में देख सकते थे।[18]

आंग्ल इतिहासकारों ने भी इस संबंध में अपने इन भारतीय बंधुओं को 'हमारा आर्य भाई, नम्र स्वभाव हिंदू' कह कर सहलाया। सुनीति बाबू कहते हैं कि इस सिद्धांत को आसानी से हज़म कर लेने का कारण भारतीय मानस का असाम्प्रदायिक होना था।[19] राजकुमार सुनीतिबाबू के इस प्रागैतिहासिक प्राकल्पिक आख्यान को अपनी पुस्तक में विलियम जोंस के समय स्थिर करते हुए कहते हैं, 'चार-पाँच हज़ार वर्षों के अलगाव के बाद यूरोप के आर्यों का अपने बिछुड़े हुए भारतीय आर्यों से मिलन हुआ।'[20]

4

सुनीति बाबू 'आर्यों के आक्रमण के सिद्धांत' की हल्की चुटकी तो अवश्य लेते हैं, लेकिन उनकी पुस्तक *भारतीय आर्यभाषा और हिंदी* का आधार 'भारोपीय परिवार' की अवधारणा ही है। भारत में मोटे तौर पर चार भाषा परिवार हैं— भारोपीय भाषा परिवार, जिससे *हिंदी की जातीय संस्कृति और*

---

[16] सर्पवल्ली राधाकृष्णन (2001) : 25.
[17] सुनीति कुमार चाटुर्ज्या (1989) : 19.
[18] वही : 40.
[19] वही : 45.
[20] राजकुमार (2018) : 17.

औपनिवेशिकता पुस्तक का समीपी सम्पर्क है, द्रविड़ भाषा परिवार, ऑस्ट्रोएशियाटिक भाषा परिवार (मुण्डा, ख़ासी, कोल, निकोबारी आदि) और चौथा चीनी-तिब्बती भाषा परिवार (नागालैंड)। सुनीतिबाबू हिंदी की ऐतिहासिक विकास-परम्परा को रेखांकित करते हुए चार चरण बताते हैं— आद्य आर्य भाषा (आ.आ.भा.), मध्य आर्य भाषा (म.आ.भा.) और नव्य आर्य भाषा (न.आ.भा.), नूतन आर्य भाषा (नू.आ.भा.)। इसे बहुत सरल शब्दों में कहें तो पहले संस्कृत, फिर प्राकृत और आधुनिक हिंदी (और इसकी बोलियों के) के तत्क्षण पहले अपभ्रंश की गति दिखती है।

गौतम बुद्ध के समय यानी म.आ.भा. युग में उत्तर भारत की आर्य भाषा की स्थिति को विश्लेषित करते हुए सुनीति बाबू तीन भाषाई प्रदेश निर्दिष्ट करते हैं— उदीच्य, मध्य देश और प्राच्य, और पूर्व-पश्चिम के भेद को स्पष्ट करते हैं। उदीच्य को वे अब भी छांदस यानी वेद-भाषा के नज़दीक मानते हैं और प्राच्य प्रदेश निरंतर छांदस से दूर होता चला गया। उदीच्य के लोग जब प्राच्य आते थे तो उन्हें यहाँ की भाषा समझ में नहीं आती थी। बुद्ध के दो ब्राह्मण शिष्यों को यह विचार आया कि क्यों न बुद्ध के उपदेशों को छांदस यानी सुशिक्षितों की भाषा में अनूदित किया जाए! लेकिन बुद्ध ने इस विचार को ठुकरा दिया और जन-सामान्य की बोलियों को ही वरीयता दी। '...बौद्ध अथवा जैन प्रभाव से विभिन्न प्रादेशिक बोलियों में साहित्य खड़ा हो गया। इस आंदोलन के पीछे सम्भवत: कुछ ऐसी भावना थी कि लौकिक भाषा को छांदस या ब्राह्मण ग्रंथों की संस्कृत के विरोध में खड़ा किया जाए क्योंकि यह भाषा प्रथम तो वैदिक कर्मकाण्ड पर आधारित कट्टरपंथी ब्राह्मणों की भाषा मानी जाती थी, दूसरे, साधारण जनों के समझने में अत्यंत दुरूह होती जा रही थी; तीसरे, धीरे-धीरे उसका प्रारम्भिक भाव तथा अर्थ विलुप्त होता जा रहा था ... इस प्रकार परिवर्तित लोक भाषाओं ब्राह्मणों के मन में बिल्कुल स्नेह या रस न था। पूर्व में रहते हुए वह हमेशा पश्चिम भूमि की ओर देखा करता था, जो वैदिक संस्कृति का जन्मस्थान थी, जहाँ का अभिजात समस्त आर्यावर्त के उच्च वर्गों का उद्‌गम-स्थान था और जहाँ आर्य भाषा अपने विशुद्ध रूप में बोली जाती थी।'[21] इसी से मिलते-जुलते विचार उर्दू भाषा के इतिहासकार मसूद हुसैन ख़ान के भी हैं।[22]

इस तरह सुनीति बाबू वेद, ब्राह्मण और उदीच्य (पश्चिम) की अभिजात संस्कृति विरोध और मगध के आस-पास बौद्ध-जैन के लौकिक साहित्य के प्रादुर्भाव के आलोक में आद्य हिंदी के उद्‌भव-उत्थान का भ्रमण कर लेते हैं। इस भ्रमण की रही-सही पूर्णता को संत-साहित्य (भक्ति काल) परिधि में तब्दील कर देता है। इन स्थापनाओं के पार्श्व में 'जॉर्ज ग्रियर्सन, राहुल सांकृत्यायन और काशी प्रसाद जायसवाल' की सहमति की अनुगूँज समानांतर चलती रहती है।

5

रामविलास शर्मा भारोपीय भाषा परिवार की अवधारणा के प्रभाव में भारत के भाषा-परिवारों के अध्ययन की निष्पतियों से अपने को अलगाते हैं। वे इस बात पर आश्चर्य व्यक्त करते हैं कि भारोपीय भाषा परिवार, द्रविड़ भाषा परिवार, चीनी-तिब्बती भाषा परिवार (नागालैंड की भाषाएँ) के बोलने वाले सारे लोग बाहर से आये हैं! '*भाषा और समाज* पुस्तक में मैंने ऐतिहासिक भाषा विज्ञान की मान्यताओं को अस्वीकार किया। इंडो-यूरोपियन भाषा के लिए एक आदि भाषा की जगह मैंने अनेक-स्रोत भाषाओं का प्रतिपादन किया ... दरअसल किसी एक आदिभाषा का एकांत शून्य में विकसित

[21] सुनीति कुमार चाटुर्ज्या (1954) : 65-66.

[22] अमृत राय (1984) : 51. अमृत राय के अनुसार, 'यदि आप बौद्ध सिद्ध साहित्य और नाथपंथी योगियों के साहित्य की बानगियों का परीक्षण करेंगे तब पाएँगे कि यह देशभाषा संग मिश्रित अपभ्रंश है, जैसे कि पुरानी खड़ी बोली. वे अपने दोहों में इसी भाषा का उपयोग करते थे और यह भाषा गुजरात, राजस्थान, ब्रज से लेकर बिहार तक के शिक्षित लोगों में प्रचलित थी. वहीं सिद्धों की भूमि होने के कारण मगध के पूर्वी छौंक को भी आप इसमें देख सकते हैं'.

होना तभी सम्भव है जब हम यह मान लें कि उस आदि-भाषा के बोलने वाले किसी एक ख़ास नस्ल के एकांतवासी लोग थे।'[23]

रामविलास शर्मा का मानना है कि भाषाओं का जन्म मनुष्यों के उद्‌भव की धार्मिक कहानी की तरह नहीं होता है। जैसे आदम और हव्वा की कहानी झूठी है, वैसे ही 'प्रोटो-इंडोयूरोपियन' की कहानी भी झूठी है। उनके अनुसार भाषा बनने के पहले संस्कृत भी कभी बोली रही होगी। जब संस्कृत बोली रही होगी तब वह अकेली बोली नहीं रही होगी, बल्कि उसी के समानांतर और बोलियाँ होंगी। उन्हीं किसी में से कोई एक आद्य 'देश भाषा' रही होगी। उनका यह भी मानना है कि यह असम्भव है कि अलग-अलग ध्वनियों और व्याकरणों वाली देश-भाषा किसी एक अपभ्रंश से निकली है। सुनीतिबाबू और अन्य यूरोपीय भाषा-विज्ञानी जहाँ भाषाओं के बीच की समानता के आधार पर अध्ययन करते हैं, वहीं रामविलासजी भिन्नताओं पर ज़ोर देते हैं। किशोरी दास वाजपेयी का *हिंदी शब्दानुशासन* एक आदर्श की तरह उनके साथ होता है, जहाँ संस्कृत और हिंदी के बीच समानता की जगह भिन्नताओं का आँकड़ा खड़ा किया गया है। लब्बेलुबाब यह कि संस्कृत-प्राकृत-अपभ्रंश-देशभाषा-हिंदी की यह सरणी उन्हें नहीं रुचती है।[24]

रामविलास शर्मा का उपर्युक्त सिद्धांत-कथन (भिन्नता वाला), जिसे प्रायोगिक ज़मीन पर संस्कृत-हिंदी के संदर्भ में किशोरीदास वाजपेयी ने परखा था, 'बोली-भाषा' वाली बहस में उनका ज़्यादा दूर तक साथ नहीं दे पाता। बिहार की देश-भाषाओं (बोलियों) को बांग्ला, असमिया से अलगाने के लिए जहाँ भिन्नताओं का चरम खड़ा किया जाता है, वहीं देश-भाषाओं की खड़ी बोली (हिंदी) से समीपी-सम्पर्क उकेरने की तत्परता भी दिखती है। क्योंकि इससे 'हिंदी जाति' की उनकी अवधारणा की पुष्ट होती है।[25]

प्राच्य, मध्यदेश और उदीच्य के संदर्भ में आद्य-हिंदी को केंद्रित कर सुनीतिबाबू ने एक बात यह भी कही है कि प्राच्य जहाँ ऋण संस्कृत (पश्चकालीन संस्कृत) से, वहीं उदीच्य धन संस्कृत से समर्थित था, अर्थात् वे 'प्राच्य' के भीतर के प्राच्य को वरीयता देते हुए देशी-भाषा का रास्ता प्रशस्त करते हुए नज़र आते हैं। रामविलास शर्मा इस बात का उत्तर गोल-मोल कर देते हैं, 'संस्कृत के विकास में पूर्वी प्रदेशों की कितनी महत्त्वपूर्ण भूमिका रही है, इसे न समझ पाने के अनेक कारण हैं। एक कारण ईरान-अफ़गानिस्तान होकर आर्यों के आगमन की कहानी है। दूसरा कारण कुरुक्षेत्र या उससे और भी उत्तर के प्रदेशों से वेदों का संबंध है। *तीसरा कारण पूर्वी प्रदेशों के वर्तमान ग़रीबी है जिससे संस्कृत जैसी भाषा के विकास में उनके योग की कोई कल्पना नहीं करता।* (ज़ोर मेरा)[26]

6

किशोरी दास वाजपेयी की एक परिकल्पना *हिंदी की जातीय संस्कृति और औपनिवेशिकता* के लेखक का लम्बी दूरी तक साथ देती है। 'काल की ही तरह देश-भेद से भी भाषा बदलती है, बहुत धीरे-धीरे। आप प्रयाग से पश्चिम चले, पैदल यात्रा करें, चार-पाँच मील नित्य आगे बढ़ें, तो चलते-चलते आप पेशावर या काबुल तक पहुँच जाएँगे; पर यह न समझ पाएँगे कि हिंदी कहाँ किस गाँव में छूट गयी-पंजाबी कहाँ से प्रारम्भ हुई-पश्तो ने पंजाबी को कहाँ रोक दिया! ऐसा जान पड़ेगा कि प्रयाग से काबुल तक एक ही भाषा है। परंतु यह यात्रा यदि वायुयान से करें और प्रयाग से उड़कर पेशावर या काबुल उतरें तो भाषा-भेद से आप चक्कर में पड़ जाएँगे। प्रयाग की भाषा कहाँ और काबुल की भाषा कहाँ! इसी तरह पूर्व की यात्रा पैदल करने पर आप हिंदी की विभिन्न 'बोलियों' में तथा मैथिली-उड़िया-बंगला आदि में अंतर वैसा नहीं ला पाएँगे। यही क्यों, दक्षिण की ओर चलें, तो ठेठ मद्रास तक

[23] रामविलास शर्मा (2002) : 23-24.
[24] वीर भारत तलवार (1991) : 55-71.
[25] रामविलास शर्मा (2002) : 335-369.
[26] वही : 190.

पहुँच जाएँगे, भाषा संबंधी कोई भी अड़चन सामने न आएगी। किंतु वायुयान से उड़ कर मद्रास पहुँचिए जान पड़ेगा भाषा में महान् अंतर! आप कुछ समझ ही न सकेंगे।'[27]

वाजपेयीजी का यह कथन परिकल्पना होने के बावजूद (क्योंकि ऐसा विशद पैदल-अनुभव बंजारों और 'काबुली वालों' के अलावा किसके पास है?) एक निहितार्थ ग्रहण किये हुए है। यह निहितार्थ 'मिले और चल दिये' से आगे जा कर निकलता है। वह यह है कि भाषाई-क्षेत्रों की सांस्कृतिक विशेषता का अनुभव किये बिना उस भाषा की आत्मा को नहीं पाया जा सकता है। 'साहित्य-उत्पादन' और 'संस्कृति-उद्योग' के संदर्भ में यह अति आवश्यक हो जाता है। अंततः राजकुमार का ज़ोर इसी बात पर है।

किशोरी दास वाजपेयी के इस मंतव्य को जब शेल्डन पोलोक की 'कॉस्मोपॉलिटन वर्नाकुलर' वाली अवधारणा मिल जाती है, तब *हिंदी की जातीय संस्कृति और औपनिवेशिकता* पुस्तक का एक ढाँचा खड़ा होता हुआ नज़र आता है। शेल्डन पोलोक के अनुसार भाषा-साहित्य में संस्कृत के वर्चस्व के इलाक़े का देशभाषीकरण उसी समय होता है जब यूरोप में लैटिन के वर्चस्व के इलाक़े में हो रहा था। वे बताते हैं कि देशभाषीकरण यह प्रक्रिया मध्य दक्कन, कन्नड़, तेलुगु, (नौवीं शताब्दी) से शुरू होती है और पंद्रहवीं शताब्दी में मध्यदेश (ग्वालियर) पहुँच जाती है। यूरोपीय लोगों के आने से पहले मातृभाषा संज्ञा-पद का नामोनिशान नहीं था। धीरे-से यह भी कह देते हैं कि 'देशभाषीकरण' में भक्ति आंदोलन, जैन और बौद्ध प्रभावों का कोई योगदान नहीं था।[28] लेकिन ध्यान देने वाली बात यह भी है कि शेल्डन पोलोक द्वारा 'देशभाषीकरण' का जो मानचित्र (काल-क्रम सहित) प्रस्तुत किया गया है, क्या वही मानचित्र और कालक्रम भक्ति-आंदोलन के अध्येताओं / इतिहासकारों द्वारा नहीं बताया गया है?

भक्ति द्राविड़ उपजी लाए रामानंद
प्रगट करी कबीर ने सप्तद्वीप नौ खण्ड

हरिहर निवास द्विवेदी के हवाले से कहा गया है कि बंगाली वैष्णव भक्त कवियों के द्वारा 'ब्रज भाषा' शब्द का चलन सत्रहवीं सदी में व्यापक हुआ।[29] विद्यापति की 'पदावली' से प्रभावित होकर बांग्ला, ओड़िया, असमिया कवियों ने, चैतन्य महाप्रभु के समय से ही, जो वैष्णव, राधा-कृष्ण से संदर्भित, पदावलियाँ लिखीं उसे ब्रज बोली (ब्रजबुली) कहा गया।[30] यह एक तरह की 'कृत्रिम' (साहित्यिक) भाषा थी। 'ब्रजबुली (ब्रज बोली), ब्रजभाव के उद्दीपन में केवल एक देश की भाषा नहीं रही, वह अनेक भाषाओं की भावात्मक संकलन बन गयी ...।'[31]

ब्रजभाषा के 'कॉस्मोपॉलिटन' (सार्वदेशिक) बनने की प्रक्रिया के संदर्भ में शेल्डन पोलोक ने स्पष्ट रूप से कहा है कि कॉस्मोपॉलिटन भाषाओं का वर्नाक्युलर होना ज़रूरी ही हो ऐसा नहीं है। इसके लिए वे संस्कृत और लैटिन का उदाहरण देते हैं। वहीं कई-एक देशभाषाएँ ऐसी भी हैं जो अपने क्षेत्रीय-संसार में कॉस्मोपॉलिटन का दर्जा पा गयीं। ब्रजभाषा को उसकी स्थानीयता (भाषाई) से काट कर और अन्य 'क्षेत्रीय देशभाषाओं' से उसकी भिन्नता को नकार कर उसे कॉस्मोपॉलिटन बना दिया गया।[32] अत: यहाँ फिर से वही प्रश्न सामने आ जाता है कि क्या 'राजनीतिक' कारणों (भक्ति आंदोलन) को किनारे रख कर सिर्फ़ 'भाषा के इलाक़ाई-भ्रमण' के सिद्धांत (किशोरी दास वाजपेयी) से ब्रज के कॉस्मोपॉलिटन होने को समझा जा सकता है?

इसी से संदर्भित एक अन्य प्रश्न है कि किसी एक भाषा के कॉस्मोपॉलिटन वर्चस्व की हानि के उपरांत दूसरी भाषा का कॉस्मोपॉलिटन स्वरूप उभरता है तो इस प्रक्रिया को कैसे रेखांकित किया

---

[27] राजकुमार (2018) : 24.
[28] शेल्डन पोलोक (2002) : 591-625.
[29] राजकुमार (2018) : 38.
[30] सुकुमार सेन (1935) : 1-3.
[31] शैलेंद्र झा (1974) : आमुख.
[32] शेल्डन पोलोक (1998) : 7-8.

जाएगा! क्या इस बात से किसी की आपत्ति होनी चाहिए कि ब्रज के कॉस्मोपॉलिटन होने या भारतीय संदर्भ में देशभाषीकरण के पहले संस्कृत कॉस्मोपॉलिटन भाषा थी। ब्रजभाषा के कॉस्मोपॉलिटन भाषा बन जाने के बावजूद 'भारतीय अभिजात्य' (दाराशिकोह) और भारतीय अभिजात्य के सम्पर्क में आने वाले यूरोपीय / विदेशी लोगों के लिए संस्कृत मुख्य आकर्षण था। ग्यारहवीं शताब्दी के शुरुआती दशकों में अलबरूनी के संस्कृत-अभ्यास से तो हम परिचित ही हैं।

सत्रहवीं सदी के मध्य, जब ब्रजभाषा अपने उरूज़ पर थी, फ्रांसीसी डॉक्टर बर्नियर 1659 में भारत आये, और आते ही दाराशिकोह के पारिवारिक चिकित्सक नियुक्त कर लिए गये। यह औरंगजेब से दाराशिकोह की अंतिम-निर्णायक लड़ाई के तुरंत पहले की बात है। अपनी यात्रा शुरू करने से पहले बर्नियर फ्रांसीसी एपिकुरियन दार्शनिक, वैज्ञानिक और गणितविद् पियरे गसेंडी (1592-1625) के शागिर्द थे और उनकी लैटिन रचनाओं के फ्रांसीसी में अनुवादक थे। दाराशिकोह की बनारस-अनुवाद परियोजना के क़रीब दस वर्ष बाद 1667 में बर्नियर अपने एक पत्र में बताते हैं कि संस्कृत और फ़ारसी में पारंगत बनारस के पण्डित के साथ उन्होंने किस तरह चिकित्सा और दर्शन की अद्यतन जानकारियों को साझा किया। सबसे मज़ेदार बात यह कि बर्नियर ने पण्डित के लिए रेने देकार्त (1595-1650) और गसेंडी के लेखन का फ़ारसी में अनुवाद किया।

बर्नियर अपने पत्र की शुरुआत कुछ इस तरह करते हैं, 'आश्चर्यचकित मत होना कि बिना संस्कृत जाने संस्कृत की पुस्तकों से कुछ बातें तुझे बताऊँगा ...।'[33]

राजकुमार का यह कथन जायज़ है कि देशभाषा और व्यापक रूप से भारतीय वांग्मय में अनुवाद की परम्परा नहीं थी, मूल-ग्रंथ की अवधारणा नहीं थी, टीका-भाष्य आदि ज़्यादा प्रचलित थे। फ़ारसी और यूरोपीय लोगों के सम्पर्क में जब 'फ़ारसी' और यूरोपीय ढंग के अनुवाद की परम्परा चल पड़ी तब भी विदेशियों ने देशभाषा (उत्तर भारतीय) को महत्त्व नहीं दिया। राजकुमार का यह कहना भी सही हो सकता है कि देशभाषा के 'पण्डित' कवि संस्कृत में पारंगत थे और रीतिकाल तक आते-आते उसमें फ़ारसी[34] भी सम्मिलित हो गयी। लेकिन आश्चर्यजनक रूप वे संत कवियों को 'ज्ञानी' कह कर छोड़ देते हैं। देशभाषीकरण के बाद औपनिवेशिक युग में संस्कृत के अध्ययन-अध्यापन के अभाव को रेखांकित करते हैं, 'संस्कृत सीखने की प्रक्रिया को सबसे बड़ा धक्का लोकभाषीकरण के दौरान नहीं, बल्कि औपनिवेशिक दौर में अंग्रेज़ीकरण के कारण लगा। इसीलिए इस बात पर कोई आश्चर्य नहीं होना चाहिए कि संस्कृत ग्रंथों का बड़े पैमाने पर अनुवाद लोकभाषा के अभ्युदय के दौरान नहीं, बल्कि उपनिवेशवाद के दौरान किया गया।' जबकि, कबीर की एक बहुचर्चित पंक्ति को किन्हीं और संदर्भ में राजकुमार खुद उद्धृत करते हैं, 'संस्कीरत है कूप जल भाखा बहता नीर'।

'परम्परा के आहत नैरंतर्य' के बहुविध आयामों से राजकुमार ख़ुद परिचित हैं। शुद्ध-हिंदी गढ़ने के प्रयास पर औपनिवेशिक प्रभुओं की 'सहज छाप' आरोपित करने के बावजूद वे मानते हैं कि लोकभाषा की पूर्व (प्राच्य) परम्परा के साथ न्याय नहीं हुआ है। ब्रजभाषा (यहाँ हिंदी भी कर दें तो ज़्यादा फ़र्क़ नहीं पड़ता है) और उर्दू के अंतर को वे सिर्फ़ लिपि और शब्द-चयन तक सीमित नहीं करते हैं बल्कि कह ही देते हैं कि ऐसा 'सांस्कृतिक विरासत के भिन्न स्रोतों से अपना संबंध जोड़ने के कारण भी है।'[35]

---

[33] जोनार्दन गनेरी (2012) : 177-188.

[34] ब्रजभाषा रुचिर कहैं सुमति सब कोय/ मिलै संस्कृत पारस्यो पै अति प्रगट जू होय. एलिसन बुश ने अपने लेख 'रीति और रजिस्टर' में फ़ारसी और ब्रज, कैसे 'धर्मनिरपेक्ष' तरीक़े से संवाद कर रहे हैं, इसके उदाहरण के बतौर इसे उद्धृत किया है. देखें, एलिसन बुश (2010) : 88.

[35] राजकुमार (2018) : 40.

सांस्कृतिक विरासत के 'निजी' स्रोतों को कल्पित कर लेने का परिणाम उर्दू-हिंदी की अंतिम परिणति के रूप में हिंदुस्तान की आज़ादी के साथ देश-विभाजन में दीख जाता है। वली का दिल्ली आगमन, शाह गुलशन से मुलाक़ात, शाह हातिम (दीवानज़ादा) का 'इस्लाह ज़बान', (भाषा-सुधार)[36] के प्रवर्तक के बतौर उभरना, इंशाअल्लाह ख़ान के उर्दू-मैनुअल (उर्दू व्याकरण) से लेकर 15 फ़रवरी, 1961 को ग़ालिब की बानवीं जयंती पर बाबा-ए-उर्दू अब्दुल हक़, जो कभी मानते थे कि उर्दू सिर्फ़ मुसलामानों की भाषा नहीं है, का यह कहना एक प्रमाण की तरह है कि 'पाकिस्तान को न तो जिन्ना ने बनाया है और न ही इक़बाल ने। हिंदू-मुसलमान के बीच का फ़साद उर्दू भाषा थी। पूरा-का-पूरा द्वि-राष्ट्र सिद्धांत उर्दू भाषा की देन है। इसलिए यह पाकिस्तान पर एक क़र्ज़ की तरह है।'[37]

ब्रज-हिंदी-उर्दू के अतिरिक्त अन्य उत्तर भारतीय देशभाषाओं, ख़ासकर पुरबी, के 'स्थानीय-रूपों' के साहित्यिक उन्नयन की सम्भावना में आड़े आये ऐतिहासिक बाधा-विघ्नों के प्रति राजकुमार चिंतित तो दीखते हैं लेकिन उसका कोई औपनिवेशिक संदर्भ न पाकर कह ही देते हैं कि 'सम्भवत: हिंदवी / ब्रजभाषा के कॉस्मोपॉलिटन रूप ने इस सम्भावना का निषेध कर दिया।'[38]

7

उत्तर-औपनिवेशिक विमर्श के संदर्भ में हिंदी गद्य को अपनी पुस्तक में राजकुमार न के बराबर जगह देते हैं, हालाँकि यह कहते ज़रूर नज़र आते हैं कि प्रेमचंद भारतीय परम्परा के लेखक हैं और एक अध्याय भी प्रेमचंद पर है (प्रेमचंद के बारे में लेखक की एक स्वतंत्र पुस्तक भी है)। क्या यह अकारण है? आधुनिक भारतीय भाषाओं (हिंदी सहित) का कथा-साहित्य / गद्य इस बात की इजाज़त तो क़तई नहीं देता है कि आप उसे 'औपनिवेशिक चंगुल' का गद्य बता कर छोड़ सकते हैं।

देशभाषाओं के विकास के शुरुआती चरण में ही अलबरूनी ने 1025 के आस-पास लक्षित किया था कि भारतीय आर्य भाषा दो रूपों में विभाजित है। एक उपेक्षित कथ्य-भाषा है जिसका प्रयोग जन-सामान्य करते हैं। दूसरी शिष्ट, सुरक्षित उच्च वर्ग के लोगों में प्रचलित साहित्यिक भाषा है और इसे अध्ययन करके ही प्राप्त किया जाता है। यह साहित्यिक भाषा व्याकरणात्मक विभक्ति-योग, व्युत्पत्ति, तथा व्याकरण के नियमों एवं अलंकार-रस-शास्त्र की बारीकियों से आबद्ध है।[39] इस बात को और स्पष्ट करते हुए सुनीति कुमार चटर्जी लिखते हैं, 'नव्य-भारतीय-आर्य (न.भा.आ.) को संस्कृत, प्राकृत तथा अपभ्रंश से रिक्थ रूप में मिली हुई परम्परा काव्य शास्त्र की थी। संस्कृत के बृहत्काय काव्य-साहित्य की तुलना में यहाँ का गद्य लगभग नगण्य-सा है ... पश्चकालीन संस्कृत टीकाओं तथा गद्यकाव्यों की शैली न.भा.आ. भाषाओं में न आ सकी। न.भा.आ. भाषाओं में जहाँ कहीं भी गद्य का उपयोग हुआ है, वहाँ वह वैज्ञानिक या दार्शनिक या विचारात्मक रूप में न होकर, सीधे-सीधे कथात्मक रूप में हुआ है ... ब्रिटिश काल के अंतर्गत भारतीय आर्य भाषा के विकास के एक बिल्कुल नूतन युग का सूत्रपात हो गया ... अंग्रेज़ी के साथ-साथ भारत में गद्य का आविर्भाव हुआ, कविता की जगह तर्क ने ली।'[40]

देशभाषाओं (उत्तर भारतीय, नव्य आर्य भाषा) के विकास के दौरान गद्य की कोई इतिहास-प्रदत और लिखित परम्परा न के बराबर मिलती है। जिस तरह का गद्य मिलता है, उसके बारे में सुनीतिबाबू ऊपर कह चुके हैं। साहित्यिक गद्य औपनिवेशिक युग की देन है। औपनिवेशिक युग के पहले गद्य की भाषा या तो संस्कृत रही या फ़ारसी। उत्तर-आधुनिक विमर्शकार रणजीत गुहा ने गद्य-

[36] शम्सुर्रहमान फ़ारूक़ी (2007) : 130; शम्सुर्रहमान फ़ारूक़ी (2003) : 805-863.

[37] अमृत राय (1984) : 264.

[38] राजकुमार, वही : 44.

[39] सुनीति कुमार चाटुर्ज्या (1954) : 106-107.

[40] वही : 110.

साहित्य, कथा, उपन्यास के संदर्भ में ढेर सारी दार्शनिक निष्पत्तियों को निकालने की गुंजाइश पैदा की है। प्रयोग की ज़मीन पर आधुनिक बांग्ला गद्य के जनक रामराम बसु की चर्चा करते हैं कि कैसे एक सहायक पण्डित ने 40 रुपये प्रति महीने की नौकरी पर बांग्ला का पहला गद्य लिखा, *राजा प्रतापादित्य*। इसे बांग्ला के पहले गद्य के रूप में प्रकाशित होते देखते हुए ईसाई मिशनरी की ख़ुशी की जानकारी रणजीत गुहा ने दी है। रणजीत गुहा की नज़र में *राजा प्रतापादित्य* इतिहास (हिस्ट्री) नहीं बल्कि रोमांचक, चमत्कार, 'अद्‌भुत' जैसा कोई टेक्स्ट बन गया है। इसका कारण बताते हुए रामराम बसु के पार्श्व में फ़ारसी के लगाव को इंगित करते हैं।[41]

हिंदी-उर्दू दोनों के 'प्रथम' गद्यकार यथा, इंशाअल्लाह ख़ान और मीर अम्मन संस्कृत-ऋण थे, लेकिन फ़ारसी में पारंगत। दोनों हिंदू भी नहीं थे। बावजूद, दोनों की अपने ज़माने में चलती थी। ऐसी चलती बाद के दिनों में सिर्फ़ देवकीनंदन खत्री को ही प्राप्त हुई। मीर अम्मन का *बाग़-ओ-बहार* और *रानी केतकी की कहानी* भविष्य में आने वाले गद्य की मिसाल बनी। *रानी केतकी की कहानी* के सत्तर साल बाद जाकर 'हिंदी नयी चाल' में ढलती है। इसी तरह अंग्रेज़ी में पहला गद्य लिखने वाले भारतीय बिहार के बक्सर में रहने वाले शेख दीन मुहम्मद जाति के नाई थे। तात्पर्य यही कि इन चारों का संस्कृत-परम्परा से कटाव था।

डॉ. राजकुमार रणजीत गुहा के हवाले से, और उसमें अपना जोड़ते हुए कहते हैं, 'अद्‌भुत पर अनुभूति की विजय हुई ...। साहित्य, संस्कृति और ज्ञान-विज्ञान की बुनियाद आधुनिकता की ज्ञान-मीमांसा पर टिक जाती है और भारतीय ज्ञान-मीमांसा की परम्परा का इस्तेमाल सिर्फ़ ख़ाली जगहों को भरने के लिए, एक ऐसा संस्करण जिसकी पैकेजिंग भारत में की गयी हो ... भारतीय भाषाओं में लिखने से कोई भारतीय नहीं हो जाता'।[42]

सवाल फिर से वही रह जाता है कि 'भारतीय होना' क्या है? संस्कृत होना, उपनिषद होना ही भारतीय होना है? देशभाषा की सारी चिंताओं का फिर क्या करना होगा? राजकुमार इससे भली-भाँति परिचित हैं। इसीलिए लोक, लोककला, लोकगीत संदर्भित उनकी चिंताएँ जायज़ हैं। लेकिन ज़्यादा सम्भावना इसी की दिखती हैं कि यह लोक 'अनुमान' में ही तब्दील होकर न रह जाए!

उपनिवेश से मुक्ति के प्रसंग में तीन धाराएँ (विचार) स्पष्ट रूप से संलग्न थीं— नेहरू, सुभाष और भगत सिंह की। गाँधी प्रतीक थे; और जो धारा संलग्न नहीं थी उसने गाँधी की ही हत्या कर दी, 'प्रतीक' की हत्या कर दी। अगर अभी भी कहीं उपनिवेशवादी मानसिकता है और उसे विमुक्त करने की ज़रूरत है तो, उसे कम से कम इन तीन धाराओं के साझे संघर्ष से तो गुज़रना ही होगा। 'भारतीयता' रूपी प्रतीक की रक्षा इन्हीं साझे संघर्षों में सम्भव है।

अपनी पुस्तक *पोस्ट कोलोनियल थियरी ऐंड द स्पेक्टर ऑफ़ कैपिटल* के पहले अध्याय के शुरुआत में ही विवेक छिब्बर कहते हैं कि पिछले दो दशकों से उत्तर-औपनिवेशिक विमर्श अकादमिक पटल पर पर्याप्त रूप से छाया हुआ है। विश्व-साहित्य पटल पर ग़ैर-पश्चिमी साहित्य को जो 'हाशिया' हासिल था, इस 'हाशिये की बहस' ने उसे मुख्यधारा में ला दिया। न्युगी वा थ्युंगो, सलमान रुश्दी, ग्राबिएल गार्सिया मार्खेज आदि के साहित्य को अमेरिकन एकेडेमिया में जगह मिलने लगी। इस सफलता को छिब्बर भी सलाम करते हैं।[43] इसी प्रक्रिया में अरुंधती रॉय, अनीता देसाई, अरविंद अडिगा एवं अंग्रेज़ी के अन्य भारतीय लेखकों की लोकप्रियता को भी शामिल किया जा सकता है।

अमेरिकी और यूरोपीय देशों के अंग्रेज़ी, विश्व-साहित्य और तुलनात्मक साहित्य के विभागों में उत्तर-औपनिवेशिक विमर्श के विजय-घोष को हिंदी का आलोचक, लेखक, अध्येता और पाठक को

[41] रणजीत गुहा (2002) : 15, 72.
[42] राजकुमार (2018) : 79.
[43] विवेक छिब्बर (2013) : 1.

किस तरह देखना चाहिए? हिंदुस्तान की देशभाषा हुए बिना कॉस्मोपॉलिटन भाषा के रूप में अंग्रेज़ी प्रतिष्ठित हो गयी है। यह हमारी नयी 'संस्कृत' है, और इसमें उत्तर-औपनिवेशिक विमर्श का बहुत बड़ा योगदान है। इसे क्या ऐसे देखा जाना चाहिए?

संदर्भ

अमृत राय (1984), *अ हाउस डिवाइडेड : द ओरिजिन ऐंड डेवलपमेंट ऑफ़ हिंदी/हिंदवी,* ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस, नयी दिल्ली.

एलीसन बुश (2010), 'रीति ऐंड रजिस्टर', फ्रेंचेस्का ऑर्सिनी (सं.), *हिंदी ऐंड उर्दू लिटरेरी कल्चर, बिफ़ोर द डिवाइड,* ओरिएंट ब्लैक स्वान, नयी दिल्ली.

जोनार्दन गनेरी (2012), *दाराशिकोह ऐंड ट्रांसमिशन ऑफ़ उपनिषद्स टू इस्लाम,* विलियम स्वीट (सं.), *माइग्रेटिंग टेक्स्ट्स ऐंड ट्रेडिशन,* युनिवर्सिटी ऑफ़ ओटावा प्रेस.

थॉमस आर. ट्राउटमैन (2006), *लैंग्वेज ऐंड नेशन : द द्रविड़ियन प्रूफ़्स ऑफ़ कोलोनियल मद्रास,* युनिवर्सिटी ऑफ़ कैलिफ़ोर्निया प्रेस, लंदन.

रणजीत गुहा (2002), *हिस्ट्री ऐट लिमिट ऑफ़ वर्ल्ड हिस्ट्री,* कोलम्बिया युनिवर्सिटी प्रेस, न्युयॉर्क.

राजकुमार (2018), *हिंदी की जातीय संस्कृति और औपनिवेशिकता,* राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली.

राजशेखर (2013), *काव्य-मीमांसा,* चौखम्भा विद्याभवन, वाराणसी.

रामविलास शर्मा (2004), *परम्परा का मूल्यांकन,* राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली.

---------- (2004), *भारतेंदु हरिश्चंद्र और हिंदी नवजागरण की समस्याएँ,* राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली.

---------- (2006), *भाषा और समाज,* राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली.

---------- (2007), *मार्क्स और पिछड़े हुए समाज,* राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली.

विवेक छिब्बर (2013), *पोस्ट कोलोनियल थियरी ऐंड स्पेक्टर ऑफ़ कैपिटल,* वर्सो, लंदन-न्युयॉर्क.

वीर भारत तलवार (1991), *हिंदी भाषा-विज्ञान की दूसरी परम्परा,* पहल-42, में प्रकाशित, ज्ञानरंजन (सं.).

शम्सुर्रहमान फ़ारूक़ी (2003), 'अ लॉन्ग हिस्ट्री ऑफ़ उर्दू लिटरेरी कल्चर पार्ट-1', शेल्डन पोलोक (सं.), *लिटरेरी कल्चर्स इन हिस्ट्री : रीकंस्ट्रक्शंस फ्रॉम साउथ एशिया,* युनिवर्सिटी ऑफ़ कैलिफ़ोर्निया प्रेस, न्युयार्क.

शम्सुर्रहमान फ़ारूक़ी (2007), *उर्दू का आरम्भिक युग : साहित्य एवं साहित्य के पहलू,* राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली.

शेल्डन पोलोक (1998), 'द कॉस्मोपॉलिटन वर्नाक्युलर', *द जर्नल ऑफ़ एशियन स्टडीज़,* 57 (1).

--------- (2002), 'कॉस्मोपॉलिटन वर्नाक्युलर इन हिस्ट्री', *पब्लिक कल्चर,* 12 (3).

शैलेंद्र झा (1974), *ब्रजबोली साहित्य,* बिहार हिंदी ग्रंथ अकादमी, पटना.

सर्वपल्ली राधाकृष्णन (2001), *उपनिषदों का संदेश,* राजपाल ऐंड संज़, नयी दिल्ली.

सुकुमार सेन (1935), *अ हिस्ट्री ऑफ़ ब्रजबुली लिटरेचर,* युनिवर्सिटी ऑफ़ कलकत्ता, कलकत्ता.

सुनीति कुमार चाटुर्ज्या (1954), *भारतीय आर्यभाषा और हिंदी,* राजकमल पब्लिकेशन, नयी दिल्ली.

------------- (1989), *भारतीय आर्यभाषा और हिंदी,* राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली.